इकाई 19 कृषि संबंध : दक्खन और दक्षिणी भारत

इकाई की रूपरेखा

19.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- मध्यकालीन दक्खनी गांवों की मूलभूत विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे,
- दक्खन में भू-स्वामित्व संबंधी बहस का विश्लेषण कर सकेंगे,
- वहां मौजूद भूमि सम्बन्धी अधिकारों के प्रकारों का उल्लेख कर सकेंगे,
- ग्रामीण समुदाय की प्रकृति पर प्रकाश डाल सकेंगे,
- कृषि समाज के विभिन्न वर्गों के आपसी सम्बन्धों की व्याख्या कर सकेंगे,
- दक्षिण भारत की कृषि संरचना का वर्णन कर सकेंगे और
- दक्षिण भारत में भूमि संबंधी अधिकारों की प्रकृति का उल्लेख कर सकेंगे।

19.2 प्रस्तावना

इस इकाई में हम मध्यकालीन दक्खन और दक्षिण भारत में कृषि संरचना की प्रकृति और वहां मौजूद विभिन्न प्रकार के भूमि अधिकारों पर विचार करेंगे। सबसे पहले हम मध्यकालीन दक्खन की कृषि संरचना की विशेषताओं पर बातचीत करेंगे।

कृषि संरचना और भूमि अधिकारों के अध्ययन का अर्थ किसी व्यक्ति द्वारा अपनी जमीन के उपयोग करने तथा बेचने के अधिकार का वर्णन करना है। यह अधिकार भूमिधारियों को

आर्थिक प्रशासनिक तथा न्यायिक अधिकार प्रदान करता था। भूमि संबंधी अधिकार लघु कृषि समाजों के या ग्रामीण समुदायों के जीवन को नियंत्रित करते हैं। वे भूमिधारियों के ग्रामीण समुदाय के अन्य सदस्यों, भूमि पर सर्वोच्च अधिकार का दावा करने वाले व्यक्तियों, राजा और उसके राजस्व वसूल करने वाले पदाधिकारी आदि के साथ सम्बन्धों को नियंत्रित करते हैं। भूमि अधिकारों की विभिन्न कोटियों का उदय, चाहे वे हस्तांतरणीय हों या अनुवांशिक हों, भूमि के आर्थिक लाभों के कारण हुआ है जो मध्यकालीन युग में अधिकांश लोगों की आय का मुख्य माध्यम था।

19.3 मध्यकालीन दक्खनी गांव : विशेषताएं

विभिन्न भूमि अधिकारों का विश्लेषण करने के पहले हम उन मध्यकालीन दक्खनी गांवों का वर्णन करेंगे जहां यह कृषि भूमि अवस्थित थी। बाद वाले अंश में हम मध्यकालीन दक्खन में भूमि के स्वामित्व और ग्रामीण समुदाय से संबंधित अधिक जटिल समस्याओं पर भी विचार करेंगे। दक्खन की स्थानीय भाषा में **गांव** को **उरु** कहा गया है। इसे **मौजे** (अरबी शब्द **मौजा** का अपभ्रष्ट रूप) और **देह** (फारसी) भी कहा जाता है। बड़े गांव को, जिसमें **बाजार** भी होता था **कस्बे** (अरबी **कस्बाह**) कहा जाता था। **गांव** शब्द संस्कृत शब्द **ग्राम** से बना है। ग्रामीण खेतों के विशाल फैलाव को **गांव सिवान** कहा जाता था। इसमें जोती हुई (**काली**), बिना जोती हुई या बंजर भूमि भी शामिल होती थी। खेती योग्य भूमि को टुकड़ों में बांटा जाता था। एक परिवार के खेतों को **थल** (संस्कृत **स्थल**) कहते थे। (इसमें 20-24 खंड होते थे)। प्रत्येक खंड के इलाके को **शेत या क्षेत्र** (संस्कृत) या जमीन (फारसी **जमीन**) कहते थे। प्रत्येक क्षेत्र और परिवार के मूल स्वामी की उपाधि ग्रामीण बही में लिखी होती थी जिसे **थलजादा** कहते थे। वास्तविक खेती की गई भूमि और निर्धारित राजस्व की राशि एक बही में दर्ज की जाती थी जिसे **कुल घदनी** कहते थे।

गांव की सीमा का सुस्पष्ट निर्धारण किया जाता था और अगर कोई इस पर अवैध अतिक्रमण करने की कोशिश करता था तो उसका विरोध किया जाता था। गांव की खेती योग्य जमीन को **काली** (एक देशी शब्द जिसका तात्पर्य ऐसी काला मिट्टी है जो खेती के लायक होती है) और गांव के निवास स्थल को **गांव स्थान** या **पनढ़ारी** (देशी शब्द, ऐसी मिट्टी जिस पर खेती न की जा सके) कहते थे। जब **पनढ़ारी** दीवार से घिरा और संरक्षित होता था तब इसे **गांव कुन्सू** कहते थे। यह निवास स्थानों में विभक्त होता था जिसे **घर, ठिकाने** या **घरथना** कहते थे। प्रत्येक परिवार अपने आबंटित टुकड़े पर घर (**घर या बड़ा**) बनाता था। गांव छोड़ कर चले गए या लुप्त हो गए किसी परिवार (**गटकुल**) द्वारा छोड़े गए घर या गृह स्थान को क्रमशः **गटकुल, घरथना** और **गटकुल बड़ा** कहते थे। इन जमीनों पर या तो ग्रामीण समुदाय का कब्जा हो जाता था या यहां नया परिवार बस जाता था पर **थलजादा** में मूल मालिक का नाम नहीं बदलता था। **थल** और सम्पदा के मूल परिवार को **जत्था** कहा जाता था। **जत्था** परिवार **थलकारी** या **थलवाही** का पर्याय था और परिवार के नामों के साथ विभाजन की सूची को **जमीनजादा जत्थावार** कहा जाता था। **मुण्डा** इसी प्रकार का एक विभाजन था। मिट्टी की उर्वरता, उत्पाद् और जनसंख्या के अनुरूप गांवों का आकार भिन्न-भिन्न होता था।

19.4 भू-स्वामित्व

भूमि के स्वामित्व के प्रश्न पर काफी समय से विद्वान बहस करते रहे हैं और कर रहे हैं। **मनुस्मृति** के अनुसार जो व्यक्ति (या परिवार) जंगल काटकर उसे खेती के योग्य बनाता था जमीन उसी की होती थी। बुरहन निजाम शाह के संरक्षण में रहने वाले साबाजी प्रताप राजा द्वारा संकलित समकालीन न्यायिक कृति **परशुरामप्रताप** में भूमि के स्वामित्व पर प्रकाश डाला गया है। इसमें मिट्टी से उपजी वस्तु पर ही राजा का अधिकार बताया गया

है और किसानों के स्वामित्व अधिकार की बात की गई है। निजाम शाही राज्य में मलिक अम्बर ने **थलकारी** के अनुवांशिक **मालिकाना** अधिकार को वैधता प्रदान करते हुए प्राचीन संयुक्त अधिकार ग्रामीण संस्थाओं को पुनर्जीवित किया।

भू-स्वामित्व के प्रश्न को सुलझाने के लिए मराठों ने स्मृतियों में वर्णित प्राचीन परम्पराओं का सहारा लिया। 17वी.–18वी. शताब्दी में मराठा राज्य में ग्रामीण संयुक्त अधिकार और गोत संस्थाओं का हवाला मिलता है। जमीन बेचने के **इकरारनामा** से यह पता चलता है कि जमीन बेची जाती थी और पेश्वा को **मिरासी** अधिकार हस्तांतरित किए जाते थे। एक अवसर पर ग्रामीण समुदाय ने कुछ राशि लेकर पेशवा को जमीन दे दी थी और उसका स्वामित्व भी दे दिया था। **व्यवहारमयुख** (17वी शताब्दी का एक ग्रंथ) प्रबंध के लेखक ने कहा है कि राज्य सम्पूर्ण भूमि का स्वामी नहीं है बल्कि वह भूमिधारियों से केवल कर वसूल कर सकता है।

मराठों के कई अनुदानों में जमीन पर राजा के कतिपय अधिकारों की चर्चा की गई है। **व्यवहारमयुख वृति या वतन** (भूमि और गृह से युक्त) को निजी सम्पति मानता है। इसमें विभाजन, बिक्री, बंधक और उत्तराधिकार सम्बन्धी अधिकारों की चर्चा की गई है जो पुनः **गोत मजलिस** (ग्रामीण सभा) के कार्य और अस्तित्व को संपुष्ट करता है।

मुसलमान शासित राज्यों में कई कारणों से भूमि अधिकारों और भू-स्वामित्व के प्रश्न के नये आयाम सामने आए। विजित प्रजातियों या राज्यों के अधिकारों के सम्बन्ध में मुसलमानों के वैधानिक सिद्धांतो से भू-स्वामित्व की समस्या को सुलझाने में मदद मिलती है। उन सिद्धांतों के अनुसार गैर मुसलमान द्वारा शासित भूमि (**दारुल हर्ब**) के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर देना एक मुसलमान शासक का प्रमुख कर्तव्य है। इस प्रक्रिया में विजित क्षेत्रों के लोगों से नजराना प्राप्त कर उन्हें संरक्षण प्रदान किया गया। इन लोगों को **जिम्मी** कहा जाता था। परम्परागत इस्लामी **फिक्ह हिदय** का लेखक विजित क्षेत्रों के बारे में कहता है कि उन्हें पैगम्बर द्वारा सुझाए गए तरीके से सैनिकों के बीच बांट दिया जाना चाहिए या जजिया और **खराज** (भूमि पर) देने की शर्त पर उन्हें उनके मूल निवासियों को लौटा दिया जाना चाहिए। बाद वाली स्थिति में मालिकाना अधिकार मूल निवासियों के पास रहता था। **जिम्मियों** को भूमिकर के रूप में उपज का आधा भाग भुगतान करना पड़ता था जबकि मुसलमानों को उपज का दसवां हिस्सा देना पड़ता था जिसे **उश्र** कहते थे। मुसलमान सिद्धांतकार किसानों को काश्तकार मानते थे और दस्तावेजों में उन्हें "**रइयत**" कहा गया है। उनके मालिकाना अधिकार और इस प्रकार भू-स्वामित्व को मुसलमान शासकों ने मान्यता नहीं दी, केवल मलिक अम्बर ने **मिरासी** अधिकारों को स्वीकार किया।

मध्यकालीन दक्खन में भू-स्वामित्व सम्बन्धी आधुनिक सिद्धांतों पर भी ध्यानपूर्वक विचार किया जाना चाहिए। बी.एच. बेदेनपावेल ने अपनी पुस्तक "**द इण्डियन विलेज कम्युनिटी 1896**" में पहले पहल यह सिद्धांत सामने रखा कि लगभग सभी भूमि (**इनाम** और **वतन** को छोड़कर जिसमें व्यक्तिगत या संस्थागत स्वामित्व था) पर राज्य का अधिकार था। उनके अनुसार राज्य द्वारा प्रदान की गई राजस्व मुक्त भूमि और वतन (किसी गांव या जिले में प्राप्त पद के बदले में मिली भूमि) या विशेषाधिकारी वाली भूमि में ही स्वामित्व को स्वीकार किया गया। ए.एस. आल्टेकर इस मत को काटते हुए सभी कृषि भूमि पर किसानों के स्वामित्व के सिद्धांत की वकालत करते हैं। अपनी पुस्तक "**ए हिस्ट्री ऑफ विलेज कम्युनिटीज इन वेस्टर्न इंडिया 1927**" में न तो वे भूमि के सामुदायिक स्वामित्व (जैसा मार्क्स और एच.जे.एस. मइने ने प्रतिपादित किया था) को स्वीकार करते हैं और न हीं राज्य स्वामित्व को बल्कि वे किसान स्वामित्व को स्थापित करते हैं। वे यहां तक कहते हैं कि इनामदारों का भूमि पर कोई मालिकाना अधिकार नहीं था, उनका अधिकार केवल राजस्व **वसूलने तक सीमित था।** एस.एन. सेन ने अपने **एडमिनिस्ट्रटिव सिस्टम आफ द मराठाज़ (1923)**" में तीन प्रकार की जमीन—**इनाम, मिरास** और **राज्य की भूमि—और किसानों के दो प्रकारों—मिरासदारों** और **उपारियों**—का उल्लेख किया है। **मिरासदारों** का भूमि पर मालिकाना अधिकार होता था, और जब तक वे लगान भुगतान करते रहते थे तब तक उनकी जमीन कोई छीन नहीं सकता था। **मिरासदार** द्वारा गृहित भूमि अनुवांशिक होती थी

और वह उसे बेच सकता था और यदि लगान न देने के कारण उससे जमीन छीन ली जाती थी तो उसे पुनः अपनी पैतृक भूमि को वापस लेने का अधिकार था। **उपारी** काश्तकार थे जो मामलातदारों की निगरानी में सरकारी जमीन पर काम करते थे। ये सिद्धांत आरंभिक अंग्रेज प्रशासकों की रिपोर्टों पर आधारित है और इनमें दो मुद्दों पर ध्यान दिया गया है 1) किसानों के दो वर्ग थे, और 2) व्यक्तिगत **मिरासदारों** के पास **मिरास** भूमि होती थी जिस पर कर लगाया जाता था।

इन रिपोर्टों में समाप्त या लुप्त हो गए परिवारों की भूमि या बंजर भूमि के अधिकारों के प्रश्न पर असहमति व्यक्त की गई है। वे **वतन** और **इनाम** अधिकार को स्पष्ट नहीं करती है और सरकारी भूमि के सम्बन्ध में भी उनमें अस्पष्टता बनी हुई है।

19.5 भूमि सम्बन्धी अधिकारों के प्रकार

ग्रामीण समुदाय में रहने वाले खेतीहर परिवारों के अधिकारों और विशेषाधिकारों का निर्धारण भूमि पर उनके स्वायित्व के अधिकारों की प्रकृत्ति से होता था। गांव के खेती योग्य क्षेत्र को 1) मिरास भूमि, 2) इनाम भूमि, 3) राज्य भूमि और 4) समाप्त हो गए परिवारों की भूमि में विभाजित किया गया था। इन विभिन्न भूमि सम्बन्धी अधिकारों पर विचार करने से विवेच्य काल की कृषि व्यवस्था के कुछ पहलू सामने आ सकेंगे।

19.5.1 मिरासी अधिकार

मिरास अरबी मूल का शब्द है। मराठी दस्तावेजों में इसे अनुवांशिक या हस्तांतरणीय अधिकार या वंश परम्परा से या इनाम आदि के रूप में पैतृक प्राप्त सम्पति (**बाप रोटी**) कहा गया है। **मिरासी** अधिकार के तहत **मिरासदार** का जमीन पर कब्जा होता था। वे ग्रामीण जमीन के मालिक होते थे और अपनी जमीन पर रहने वाले लोगों से धन या सेवा वसूल कर सकते थे। **मिरासदारों** की दो कोटियां थी। 1) **मिरास** भूमि के अनुवांशिक स्वामी और 2) वे जिन्होंने गांव की **गटकुल** भूमि पुनः प्राप्त की हो। अनुवांशिक **मिरासदारों** को गांव की पुरानी सूची **थालजादा** में रखा जाता था और भूमि पर उनके पास कोई अधिकार पत्र नहीं होता था। दूसरी श्रेणी को **मिरास पत्र** (**मिरास** अधिकार पत्र) प्राप्त होता था जिसे ग्रामीण समुदाय प्रमाणित करता था और इस अधिकार पत्र को पड़ोसी इलाकों के ग्रामीण समुदायों और जिले के **देशमुखों** और **देशपाण्डे** से अनुमोदित करवाना पड़ता था।

मिरास पत्र देने की प्रथा **स्मृतियों** में दी गई व्यवस्था से मेल खाती है। **मिरासदारों** के परिवारों को ग्रामीण सभा या **गोत सभा** में मत डालने का अधिकार था। हिंदू सामूहिक अधिकार पारिवारिक व्यवस्था के अनुरूप परिवार का सबसे बड़ा सदस्य इस अधिकार का प्रयोग करता था। शिवाजी के शासन काल के दौरान मराठा राज्य में **मिरासदार** के अधिकारों और विशेषाधिकारों में काफी कटौती की गई। **मिरासी** अधिकार में भूमि के अनुवांशिक स्वामित्व की अवधारणा निहित थी। अगर कोई सरकार को लगान नहीं चुका पाता और इस कारण उसको जमीन से बेदखल कर दिया जाता था तो भी **थालजादा** में उसका नाम बना रहता था और उसके वंशज सरकार का बकाया चुका कर सौ वर्ष बाद भी अपनी जमीन वापस ले सकते थे।

मिरासदारों के पास दो आधारों पर ग्रामीण भूमि रहती थी। 1) पहला आधार संयुक्त अधिकार की शर्त थी जिसके अनुसार गांव की जमीन के कई हिस्से किए जाते थे, और 2) गांव का एकल मालिकाना स्वामित्व का दूसरा आधार होता था।

ग्रामीण संयुक्त अधिकार या प्राचीन थल व्यवस्था जो मिरासी अधिकार का आधार थी:

इस प्रकार की भूमि पर गांव के विभिन्न परिवारों का संयुक्त रूप से अधिकार होता था। उसका हिस्सा, अधिकार और विशेषाधिकार सुस्पष्ट रूप से विभाजित होता था। मूल **थल** पर विभिन्न हिस्सों के रूप में **जत्था** का अधिकार होता था। **जत्था** में सामूहिक तौर पर **थल** के पहले स्वामी के वंशज शामिल होते थे। एक सामूहिक इकाई के रूप में **जत्था** पर खेती करने, सरकार को भुगतान करने और अन्य कार्य करने का दायित्व था। अगर **जत्था** का कोई उत्तराधिकारी नहीं बचता था तो हिंदू विधान के स्वामित्व सम्बन्धी नियमों के अनुसार जमीन उसके सम्बन्धियों के बीच वितरित कर दी जाती थी। सरकार के देय के भुगतान करने का उत्तरदायित्व **जत्था** के प्रत्येक व्यक्तिगत सदस्य पर होता था हालांकि सरकार को यह भुगतान **जत्था** द्वारा सामूहिक रूप से किया जाता था। अपने पैतृक अधिकार को बेचना आसान काम नहीं था और बहुत आवश्यक होने पर ही इसकी अनुमति मिलती थी। ग्रामीण समुदाय के अनुमोदन के बिना बिक्री संभव नहीं थी। **जत्था** के सदस्य एक दूसरे से सम्बन्धित होते थे और उन्हें **घर भाऊ** (गृह भाई) कहा जाता था। जमीन के खरीददार या **जत्था** के नये सदस्य को **बिरादर भाऊ** (गांव के भाई) कहते थे। उन्हें मूल मालिक की जिम्मेदारियों को पूरा करना पड़ता था। **मिरासदार** सरकार को **स्वास्तिधारा** नामक स्थाई लगान दिया करते थे पर इसके साथ समय-समय पर **मिरसपाती** जैसे अन्य उपकर भी लगाए जाते थे। अगर किसी परिवार का कोई व्यक्ति बचा न होता था तो यह हिस्सा सामूहिक ग्रामीण अधिकार में चला जाता था। **गटकुल** या गांव की खाली जमीन ग्रामीण समुदाय या **पाटिल** (गांव का मुखिया) के पास रहती थी।

मिरास अधिकार की मुख्य विशेषताएं :

मिरासदार जरूरत पड़ने पर कभी भी अपनी जमीन बेच सकता था। खरीददार बाहरी व्यक्ति भी हो सकता था और उसके लिए खरीदे हुए स्थान पर बसने का कोई प्रतिबंध नहीं था। खरीदी गई भूमि पर वह अपने परिवार के किसी भी सदस्य के रहने की व्यवस्था कर सकता था। **मिरास** भूमि को खरीदने और बेचने के लिए ग्रामीण अधिकारियों और पड़ोसियों का अनुमोदन या मंजूरी लेनी पड़ती थी। राज्य की पूर्व अनुमति के बिना भी जमीन बेची जा सकती थी यह इस तथ्य को पुष्ट करता है कि **मिरास** भूमि पर राज्य का मालिकाना अधिकार नहीं था। राज्य को राजस्व का भुगतान कर खरीददार भूमि का उपयोग कर सकता था। राज्य एक दस्तावेज जारी कर विक्रय को अनुमोदित कर देता था, इसके लिए वह विक्रय मूल्य का एक चौथाई शुल्क के रूप में वसूल करता था।

मिरास भूमि पर **मिरासदार** का पूर्ण निजी मालिकाना अधिकार होता था। राज्य **मिरासी** अधिकार का अधिग्रहण नहीं कर सकता था। इसके अलावा मुखिया या गांव के अन्य लोग भी **मिरासी** अधिकारों में दखल नहीं दे सकते थे। हालांकि अगर राज्य चाहता था तो इस **मिरासी भूमि को गृह स्थान में परिवर्तित कर सकता था, इसके लिए उसे मिरासदारों को गटकुल** भूमि के रूप में मुआवजा देना पड़ता था।

मिरासी अधिकार के अस्तित्व के कारण गांव और **देश** की सामूहिक कार्य प्रणाली सुनिश्चित होती थी।

19.5.2 इनाम अधिकार

इनाम मूलतः एक अरबी शब्द है जिसका अर्थ उपहार या पुरस्कार होता है। समग्रता में इसका तात्पर्य केवल **इनाम, इनाम** गांव या **इनाम** भूमि से होता था। मात्र **इनाम** का अर्थ होता था कि एक व्यक्ति को किसी गांव के राजस्व का खास हिस्सा प्राप्त होगा। किसी व्यक्ति या पदाधिकारी को **इनाम** गांव अनुवांशिक आधार पर प्रदान किया जाता था।

यहां हम **इनाम** पर भूमि अधिकार के एक प्रकार के रूप में विचार करेंगे। **इनाम** भूमि या तो पूरी तरह राजस्व मुक्त होती थी या इस पर कम दर पर **इनाम पट्टी** कर लगाया जाता था। यह भूमि अधिकार का एक विशेषाधिकार रूप था। **इनाम** विभिन्न प्रकार के लोगों को दिया जाता था, मसलन अनुवांशिक ग्रामीण पदाधिकारी, राज्य के पदाधिकारी, मन्दिर और

बलूतेदार (पुजारी)। इसे प्राप्त करने वाले को **इनामदार** कहा जाता था। **इनामदार** दो प्रकार के होते थे: निवासी और अनिवासी। इस तथ्य के प्रर्याप्त प्रमाण हैं कि ये आवंटन अनुवांशिक हुआ करते थे। **वतनदारों** (अनुवांशिक ग्रामीण पदाधिकारी) द्वारा गृहीत **इनाम** भूमि को पद या **वतन** के साथ बेचा या हस्तांतरित भी किया जा सकता था। हालांकि निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि **इनाम** भूमि और **वतन** को अलग-अलग बेचा या स्थानान्तरित किया जा सकता था। यह भी स्थापित तथ्य नहीं है कि मन्दिरों, मठों आदि संस्थाओं द्वारा गृहीत इनाम भूमि को बिना किसी असुविधा के बेचा जा सकता था या नहीं।

19.5.3 राज्य की भूमि (राजा की भूमि)

सरकार द्वारा सामूहिक इकाई के रूप में या पेशवा शासक द्वारा गृहीत भूमि को राज्य भूमि का दर्जा दिया जाता था। हालांकि इनके बीच भी कुछ अंतर होता था। दक्खन के कई गांवों में भी राज्य भूमि होती थी जिसका प्रबंधन स्थानीय नौकरशाही किया करती थी। केन्द्रीय सरकार की अनुमति लेकर वे इसे बेच भी सकते थे। यह भूमि **इनाम** के रूप में अनुदानित की जाती थी या गृह स्थानों के रूप में इन्हें विकसित किया जाता था।

19.5.4 बंजर भूमि या लुप्त परिवारों की भूमि

मिरासी और **इनाम** अधिकार में एक स्पष्टता है, हालांकि नष्ट या समाप्त हुए परिवारों की भूमि या बंजर भूमि के संबंध में काफी अस्पष्टता बनी हुई है। इस भूमि को गांव का मुखिया या ग्रामीण सभा या राज्य बेच सकता था। समाप्त हो गए परिवारों की भूमि को **गटकुल जमीन** कहते थे। जिन जमीनों पर बहुत समय से खेती नहीं हुई होती थी उन्हें **पाद जमीन** कहते थे। यहां तक कि **मिरासी** भूमि में भी **पाद जमीन** होती थी। हम उन जमीनों पर भी विचार करेंगे जिसके मालिक के न रहने के कारण वह बंजर हो गई हो। **गटकुल जमीन** और **पाद जमीन** दोनों का तात्पर्य बंजर जमीन से है। राज्य की बंजर भूमि को **खालिसा पाद जमीन** कहते थे।

बंजर भूमि को गांव का मुखिया, स्थानी ग्रामीण सभा और सरकार अधिग्रहीत कर सकती थी और बेच सकती थी। गांव के मुखिया द्वारा अधिग्रहित जमीन को **मिरास** भूमि माना जाता था और उस पर राजस्व लगाया जाता था। स्थानीय ग्रामीण सभा की अनुमति लेकर गांव का मुखिया समाप्त हुए परिवार का घर और गृह स्थान अधिग्रहित कर सकता था हालांकि आमतौर पर इसमें बहुत लाभ नहीं होता था। इस प्रकार की अधिग्रहित भूमि पर बटाई के आधार पर **उपारि** द्वारा खेती की जाती थी और इन पर ऊंचा और निर्धारित भू-राजस्व लगाया जाता था, केवल फसल नष्ट होने पर ही इसमें छूट दी जाती थी। हालांकि इस प्रकार के अधिग्रहण से मुखिया की सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ती थी पर यह बहुत लाभप्रद नहीं होता था। इसके अलावा मुखिया अपनी इच्छानुसार इस जमीन को बेच भी नहीं सकता था।

स्थानीय सभा बंजर भूमि को **मिरास** या **इनाम** भूमि के रूप में बेच देती थी। **इनाम** के रूप में खरीदी गई बंजर भूमि पर खरीददार (**इनामदार**) को भूमि कर नहीं देना पड़ता था। हालांकि बेची गई बड़ी **इनाम** भूमि पर एक समूह के रूप में गांव को भूमि कर देना पड़ता था। **मिरास** भूमि के रूप में बेची गई बंजर भूमि पर नये खरीददार को भारी भूमि कर देना पड़ता था।

मुखिया के निवेदन पर सरकार मुआवजे के रूप में **मिरासदारों** को बंजर भूमि प्रदान करती थी। गांव के रिहाइशी इलाके के नजदीक की अधिग्रहित **मिरासी** भूमि पर घर बनाये जाते थे। खेती को बढ़ावा देने के लिए अधिकारियों और अनुवांशिक पदाधिकारियों को बंजर भूमि प्रदान की जाती थी। राजा या पेशवा को भी अनुदान के रूप में बंजर भूमि दी जाती थी। ऐसी बंजर भूमि जिसे न तो मुखिया अधिग्रहित करता था और न ही स्थानीय सभा इसमें रुचि लेती थी इसे सरकार अपने अधिकार में ले लेती थी। सरकार यह जमीन

पुजारियों, राज्य पदाधिकारियों, मंदिरों, मस्जिदों, अनुवांशिक पदाधिकारियों आदि को इनाम भूमि के रूप में अनुदान दे देती थी। इस प्रकार सरकार राज्य के खर्चे में भी कटौती करती थी और राज्य के प्रति प्राप्तकर्ताओं की निष्ठा भी हासिल करती थी।

बोध प्रश्न 1

1) मध्यकालीन दक्खनी गांवों की मुख्य विशेषताएं क्या थी?

....

....

....

....

....

2) दक्खन में भूमि अधिकारों के चार प्रकारों की सूची बनाइए।

....

....

....

....

....

3) दक्खन में भूमि स्वामित्व संबंधी आधुनिक सिद्धांतों पर संक्षेप में विचार कीजिए।

....

....

....

....

....

19.6 ग्रामीण समुदाय

ग्रामीण समुदाय भूमि अनुवांशिकता के सिद्धांत पर आधारित थी। यह सिद्धांत संयुक्त संपत्ति सम्बन्धी प्राचीन हिन्दू व्यवस्था से गृहीत है। गांव के मुखिया, लेखापाल, कारीगर, भूमिधारियों आदि से मिलकर ग्रामीण समुदाय बनता था। कुछ स्वायत्त ग्रामीण इकाइयों को मिलाकर बड़ी क्षेत्रीय इकाइयां बनती थी, इन्हें **नायकवाड़ी** या **स्थल** (मुसलमान पूर्व काल में) कहते थे। यह **नायक** नामक एक पदाधिकारी के जिम्मे होता था जिसका काम राजस्व वसूल करने में गांव के मुखिया की सहायता करना और स्थानीय सैन्य थल को नेतृत्व प्रदान करना होता था। लगभग 84 या उससे अधिक गांवों को मिलाकर एक प्रशासनिक इकाई **परगना** या **देश** बनता था जिसका सर्वोच्च अधिकारी **देशमुख** होता था। ये बड़ी क्षेत्रीय इकाइयां गांवों और शासक के बीच कड़ी का काम करती थीं। **सरदेसाई** और **सरदेशमुख** (**देशमुख** और **देसाइयों** से ऊपर) गांवों और शासक के बीच की एक और कड़ी थे। व्यापारिक केंद्र से युक्त गांव को **कस्बा** कहते थे। गांव और देश की सामूहिक इकाई को **गोत** कहते थे। इसका सम्बन्ध संस्कृत शब्द **गोत्र** से है जिसका अर्थ परिवार होता है। क्षेत्रीय इकाइयों के रूप में गांवों और **परगनों** का संघटन ग्रामीण समुदायों के प्राचीन रीति रिवाजों पर आधारित था। यह इकाईयां राजनैतिक परिवर्तनों से **अप्रभावित** रही।

19.6.1 सिद्धांत

भारतीय ग्रामीण समुदाय की प्रकृति से सम्बन्धित 19वी शताब्दी के सामाजिक आर्थिक लेखन से दो सिद्धांत सामने आते हैं। पहला सिद्धांत कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित है। यह अंग्रेज प्रशासकों की दो पुस्तकों पर आधारित (मसलन भारत के प्रभारी गवर्नर जनरल, सी.टी. मेटकाफ़ जो कि भारतीय ग्रामीण समुदाय को गतिहीन मानते हैं) है। मार्क्स ग्रामीण समुदाय को "आत्म निर्भर" और अपरिवर्तनीय मानता था जिसका श्रम विभाजन मुख्य आधार था। बेदेन पावेल और अन्य लोगों ने पुजारी, नाई, मुखिया आदि व्यक्तियों को ग्रामीण सेवक के रूप में माना है। कार्ल मार्क्स के अनुसार पूरा समुदाय इन सेवकों का भरण पोषण करता था। बेदेन पावेल की कृति "**भारतीय ग्रामीण समुदाय (1896)**" को आधार बनाकर मैक्स बेबर कहता है कि ग्रामीण सेवकों को ग्रामीण समुदाय को प्रदान की गई सेवा के बदले भूमि या फसल में हिस्सा मिलता था या नगद राशि मिलती थी। मार्क्स और वेबर भारतीय समाज की इस "अपरिवर्तनीयता" का कारण "आर्थिक आत्मनिर्भरता" और "जाति व्यवस्था" और "चमत्कारिक परम्परावाद" में ढूंढते हैं।

एस.एन.सेन. और ए.एस. अलटेकर जैसे इतिहासकारों के दृष्टिकोण भी मार्क्स और वेबर से मेल खाते हैं। दोनों इस बात पर सहमत हैं कि पूरा गांव एक इकाई के रूप में ग्रामीण सेवकों से काम लेता था। एस.एन. सेन स्पष्ट रूप से ग्रामीण सेवकों के रोजगार को अनुवांशिक प्रकृति का मानते हैं।

इस सिद्धांत को नकारते हुए ग्रामीण भारत और **छोटे समुदायों** पर लिखते हुए समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों ने **जजमानी** सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। इसके पहले प्रवर्तक एक अमेरिकी इसाई मिशनरी डब्ल्यू.एच. विसर थे। उनके अनुसार परा-ग्रामीण स्तर पर प्रभावशाली जाति के कुछ परिवार (संरक्षक) अनुवांशिक आधार पर ग्रामीण सेवकों की सेवा ग्रहण करते थे। टी.ओ. बेडलमैन **जजमानी** व्यवस्था को सामन्ती व्यवस्था के रूप में व्याख्यायित करते हैं जिसमें उसी क्षेत्र की विभिन्न जातियों के दो या उससे अधिक परिवारों के बीच सेवा प्रदान करने और भुगतान का अनुवांशिक सम्बन्ध होता था। एक प्रमुख समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास इस **जजमानी** अवधारणा को स्वीकार नहीं करते हैं। वे अनुवांशिक सेवा के तत्व और खास परिवारों के बीच संबंध के विचारों को उदाहरण देकर.अस्वीकृत करते हैं।

19.6.2 किसान

अंग्रेज प्रशासकों की रिपोर्ट के साथ-साथ देश.. मराठी दस्तावेज भी दक्खन में मौजूद किसानों की कोटियों और भूमि अधिकारों की प्रकृति पर प्रकाश डालते हैं। इन दस्तावेजों में किसानों के लिए **रययत, लोक प्रजा, कुल** या **कुनबी** जैसे अनेक शब्द उपयोग में लाए गए हैं। गांव की भूमि किसानों या खेतीहरों के पास होती थी। उन्हें मुख्य रूप से दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है क) **मिरासदार** और ख) **उपरि।**

मिरासदार (मिरास या थलकरी) आमतौर पर भूमिधर तथा मालिक खेतीहार (मुक्त अधिग्रही) होता था। **उपरि** भूमि धारी की स्वीकृति से कृषि करने के लिए उसकी इच्छा का काश्तकार होता था। उसका गांव में कोई स्थाई आधार नहीं होता था और वह या तो **मिरासदार** का या फिर सरकार (18वी. शताब्दी के उतरार्द्ध के बाद) के खेत जोतता था। ये खेत **उपरि** या भूमि पर उक्ति अधिकर वाले काश्तकारों के पास होते थे। यह एक प्रकार से भूमि को पटटे पर देने जैसे था जिसमें एक साल के लिए मौखिक समझौता होता था जिसमें किराए की दर निर्धारित नहीं होती थी।

असामी कृषक **कौल** (समझौता)–**इस्तवा** (भूमि) अधिकार पर भी जमीन अपने पास रखता था। यह एक प्रकार का ठेके पर आधारित समझौता (5,7 या 9 वर्षों के लिए) होता था जिसकी सहायता से कृषकों को बंजर भूमि पर खेती करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। **देशमुख कौल इस्तवा** जारी करता था, उसे बंजर भूमि पर कमीशन मिलती थी। बड़ी

इनाम भूमि पर **उपरि** बटाई के आधार पर खेती करते थे। कभी-कभी **मिरासदार** इनाम भूमि के असामी भी होते थे। अनुपस्थित **इनामदार** अपने एजेन्ट या गांव के प्रधान के माध्यम से अपना हिस्सा नगद में ग्रहण कर लेता था। निवासी **इनामदार** को वस्तु या अनाज के रूप में लगान दिया जाता था। यह आमतौर पर कुल उत्पादन का आधा हिस्सा होता था।

व्यक्तिगत तौर पर किसान और अनुवांशिक ग्रामीण पदाधिकारियों को **मिरास** भूमि दी जाती थी जिस पर भूमि कर लगाया जाता था। यहां तक फसल नष्ट होने पर भी उन्हें सरकार को अंतिम भूमि कर देना पड़ता था, इसके कारण **मिरासदार** ओर गांव के मुखिया गांव छोड़ने की ओर प्रवृत हुए। **उपरि मिरासदारों** के असामी हुआ करते थे जो बटाई पर **मिरास** भूमि पर खेती करते थे। अगर उनका मालिक भाग गया होता था तो भी उन्हें सरकार को लगान देना पड़ता था यह आमतौर पर कुल उत्पाद का 2/3 हिस्सा होता था। 18वी. शताब्दी के उतरार्द्ध में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि **मिरासदार** खेतीहर बन गए और **उपरि** को सरकार ने राज्य और बंजर भूमि पर खेती करने के लिए प्रोत्साहित किया। यह स्पष्ट है कि दक्खन में असामीवार (किराये पर भूमि लेना) बड़े पैमाने पर प्रचलित नहीं थी, जमीन कि बिक्री बहुत कम होती थी और **उपरियों** ने जल्दी ही भूमि पर बने रहने के अधिकार प्राप्त कर लिए।

19.6.3 गोत सभा या मजलिस

गोत सभा एक स्वतंत्र निकाय थी जो गांव या **परगना** के प्रशासनिक, वित्तीय और न्यायिक मामलों की देखरेख करती थी। **परगना** के स्थानीय पदाधिकारियों से मिलकर बनी प्रशासनिक निकाय को **दीवान** कहते थे। **गोत** और **दीवान** दोनों ग्रामीण समुदाय द्वारा लाए गए झगड़ों में मध्यस्थ की भूमिका अदा करते थे। **वतनदार** और **बलूतदार—वतनदार गोत सभा** की बैठक में शामिल होते थे। दक्खन में मुसलमान शासन ने **मजलिस** व्यवस्था के विकास को बढ़ावा दिया। इसमें **काजी, गोत** और **दीवान** के बीच कड़ी का काम करता था। मामले के स्वरूप के अनुसार फैसला दिए जाने की परम्परागत व्यवस्था समाप्त कर दी गई। सब फैसलों को **मजलिस** के सदस्य प्रमाणित करते थे। उसके बाद यह एक कानूनी दस्तावेज (**महजर**) बनता था।

19.7 वतन व्यवस्था

वतन एक अरबी शब्द है और **वतन** व्यवस्था की शुरूआत दक्खन में मुसलमान शासन की स्थापना के बाद हुई। यह सरकार द्वारा गांव में कार्यरत पदाधिकारी को ग्रामीण समुदाय को सेवाएं प्रदान करने के बदले दिया जाने वाला अनुवांशिक अनुदान था। ये अनुवांशिक ग्रामीण पदाधिकारी गांव (**देसक**) के स्थाई निवासी होते थे और उन्हें गांव में प्रशासनिक कार्य सम्पन्न करने के बदले में राज्य अधिकारों और विशेष छूट के प्रावधानों के साथ भूमि अनुदानित करता था। इन **देसकों** को **वतनदार, देशमुख, देसाई, देशपाण्डे, कुलकर्णी** आदि कहते थे। उन्हें सरकार को भू-राजस्व न देने की छूट मिली हुई थी। **स्मृतियों** में **वृतियों** का उल्लेख मिलता है जो वतन का देशी पर्याय था और **वृतियों** के धारकों द्वारा प्राप्त पारिश्रमिक को **निबंध** कहा जाता था। **वतनदारों** को मिली भू-राजस्व से मुक्त भूमि को **इनाम** कहते थे।

गांव का प्रमुख अनुवांशिक अधिकारी **पटेल** होता था, समकालीन मराठी दस्तावेजों में उसे **गावा पटेल** या **मोकद्दम पटेल** भी कहा गया है। राजस्व वसूल करना और केन्द्र का हिस्सा राजकोष तक पहुंचाना **पटेल** की प्रमुख जिम्मेदारी थी। गांव के मुखिया के रूप में वह गांव में कई प्रकार के प्रशासनिक कर्तव्य सम्पन्न करता था। इसके बदले में उसे कुछ विशेषाधिकार (**हक**) और अनुलाभ (**लाजिम**) प्राप्त होते थे जिसका उल्लेख **वतन** वचन पत्र में होता था। उसे **हक** एक अधिकार के रूप में प्रदान किया जाता था (कानूनी अनुदान)।

इसके अन्तर्गत राज्य उसे कुल राजस्व वसूली का एक हिस्सा नगद या वस्तु के रूप प्रदान करता था। **लाजिम** स्वेच्छापूर्ण भुगतान होता था जैसे **फुसकी** (कोई भी थोड़ा सा अनाज), **पसोड़ी** (वस्त्र) आदि, महारों और कारीगरों से मुफ्त सेवा, वरिष्ठता अधिकार (**मान पान**) जिसके कारण **पटेल** गांव के पर्व-त्यौहारों की अध्यक्षता करता था। इसके अलावा **पटेल**, अन्य अधिकारी जैसे **कुलकर्णी** और **चौगुल** (**पटेल** का सहायक) को भी उनकी सेवा के बदले अनुलाभ और अधिकार प्राप्त होते थे।

देशमुख और **देशपाण्डे** परगना के अनुवांशिक अधिकारी थे। **देशमुख** प्रधान **पटेल** था। अपनी सेवाओं के बदले उसे उपज में हिस्सा मिलता था और वे ग्रामीण सेवकों, व्यापारियों आदि से वस्तुएं और सेवा ग्रहण करते थे। इसके अलावा गांव में उनकी जमीन भी होती थी। अपने परगना में **देशकुलकर्णी कुलकर्णियों** के काम का निरीक्षण करते थे। पर वह **देशपाण्डे** का मातहत होता था। पारिश्रमिक के रूप में **देशपाण्डे** को राजस्व मुक्त भूमि के साथ-साथ नगद और वस्तु के रूप में भी भुगतान होता था। यह देशमुख को दिए गए हिस्से के मुकाबले आधा होता था।

सेठ और **महाजन कसबा** या **पेठ** (ग्रामीण बाजार) के अनुवांशिक अधिकारी होते थे। उन्हें नगद या वस्तु और भूमि के रूप में पारिश्रमिक मिलता था। कुछ गांवों को मिलाकर **तरफ** या **करयत** बनता था। यह क्षेत्रीय इकाई परगना से छोटी होती थी। इस इकाई का अनुवांशिक पदाधिकारी होता था जिसे नायक कहते थे। उसका काम किसानों से राजस्व वसूल करना था। बाद में मुसलमान शासित क्षेत्रों में इस पदाधिकारी का स्थान **हवलदार** ने ले लिया।

देशमुख और **देशपाण्डे** जमींदार (**हक्कदार**) हुआ करते थे पर अपने अधिकार क्षेत्र की सभी जमीन के वे मालिक नहीं होते थे। वे केवल हताश होकर ही अपनी जमीन बेचते थे पर उनके पद के साथ जुड़े अधिकारों और विशेषाधिकारों को अलग से बेचा नहीं जा सकता था। राजनैतिक उथलपुथल के समय भी उनकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता था।

मिरासी और **वतनी** अधिकारों के बीच एक महत्वपूर्ण अन्तर है। **मिरासी** भूमि पर भूमिधारियों को अनुवांशिक स्वामित्व अधिकार प्राप्त था जबकि वतनी अधिकार **वतनदारों** के पद और उनके द्वारा प्रदान की गई सेवा से जुड़ा हुआ था और यह हस्तांतरणीय भी था। एक **मिरासदार वतनदार** भी हो सकता था, पर एक **वतनदार मिरासदार** भी हो यह आवश्यक नहीं था। (हालांकि **वतनदार** के पास अनुवांशिक आधार पर इनाम भूमि रहती थी।

19.7.1 बलूतेदार

महाराष्ट्र के गांवों में ग्रामीण सेवकों को बारह **बलूते** या **अलूते** कहा जाता था। **बलूतदारों** के संघटन को लेकर विद्वानों के बीच मतभेद है। आमतौर पर इस सूची में शमिल होते थे: बढ़ाई, लुहार, कुम्हार, चर्मकार, रस्सी बनाने वाला, नाई, धोबी, ज्योतिषि, हिंदू पंडित और महार। बारह **अलूत** शब्द (ग्रांट डफ आदि द्वारा उल्लिखित) संभवतः **बलूते** का ही विस्तार था और उनका एक ही अर्थ था। 18वीं शताब्दी के मराठी दस्तावेजों में अलूतों का उल्लेख नहीं मिलता है और इस प्रकार ऐसा लगता है कि वे कभी-कभी ही गांव में पाए जाते थे। दो प्रकार के **बलूतेवारों** का पता चलता है। **वतन** धारी **बलूता** और अस्थाई अपरिचित (**उपरि**) **बलूता**। प्रथम कोटि के **बलूतों** का अपनी सेवा कर्तव्यों पर अनुवांशिक एकाधिकार था वे पूरे गांव के सेवक होते थे और ग्रामीणों को व्यक्तिगत तौर पर सेवा प्रदान करते थे। किसान **बलूतेवारों** को तीन प्रकार से भुगतान करते थे।

1) वस्तु या नगद के रूप में जिसे **बलूता** कहा जाता था।

2) अनुलाभों, अधिकारों तथा विशेषाधिकारों के रूप में, नगद या वस्तु के रूप में, तथा

3) राजस्व मुक्त **इनाम** भूमि के रूप में।

यह स्पष्ट नहीं है कि उपरि **बलूता** को भी अनुलाभ प्राप्त होते थे या नहीं। इनाम भूमि के बारे में आश्वस्त होकर कहा जा सकता है कि केवल वतन धारी **बलूतों** को ये भूमि रखने का अधिकार था। **बलूता वतन** पूरे गांव की अनुमति के बिना हस्तांतरित, विभाजित या बेची जा सकती थी, पर इस प्रकार के लेन देन में ग्रामीण सभा का अनुमोदन आवश्यक होता था।

बलूता वतन के विभाजन का मतलब पारिश्रमिक का विभाजन होता था, सेवा कर्तव्यों का नहीं। पारिश्रमिक की राशि में बढ़ोतरी नहीं होती थी अतः इस प्रथा को हतोत्साहित नहीं किया जाता था। **बलूते** किसी एक खास परिवार के नहीं बल्कि पूरे गांव के सेवक होते थे।

बलूते आमतौर पर विभिन्न रोजगार आधारित जातियों से संबंध रखते थे। पुजारी और लेखापाल ब्राहमण होते थे। पुजारी के पास कोई वतन नहीं होता था। हिंदू अनुष्ठानों और कर्मकांडों की खास प्रकृति के कारण उनका कार्य कुछ जातियों और परिवारों तक ही सीमित था। ये परिवार (**जजमान**) पुजारी के स्थाई या अस्थाई ग्राहक होते थे। अतः **जजमानी** सिद्धांत पुजारी पर तो लागू होता है पर यह बारह **बलूतों** पर लागू नहीं होता। अंतिम विश्लेषण के रूप में यह कहा जा सकता है कि गांव एक इकाई के रूप में **वतनदारों** और **बलूतेदारों** की देखभाल करता था और उन पर नियंत्रण रखता था।

19.7.2 सामंतवाद

परगना और ग्रामीण समुदाय एक ऊर्ध्व स्तरीय विन्यास संरचना का प्रतिनिधित्व करता है जबकि संरचनात्मक रूप में जाति क्षेतिज होती है और उसकी प्रकृति पर ग्रामीण होती है। जाति गांव और **परगना** का एक महत्व पूर्ण हिस्सा थी। इसमें एक जनजातीय संरचना भी थी जिसके कारण इसकी प्रकृति घुमंतु और लड़ाकू हो गई थी। इस प्रकार मध्यकालीन दक्खनी स्थानीय समाज की सामुदायिक संरचना बहुतत्ववादी थी पर यह ऊर्ध्व रूप में या क्षेतिज रूप में स्तराकृत था।इससे हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भारतीय ग्रामीण समुदाय आत्मनिर्भर और एकाकी नहीं थे बल्कि पड़ोसी गांवों से भी इनका सम्बन्ध था। **वतन** व्यवस्था सामुदायिक संरचना की कार्यपद्धति को नियंत्रित करती थी। यह ग्रामीण समुदाय में किसानों और कारीगरों के बीच श्रमशक्ति के विभाजन का प्रतिनिधित्व करती थी। स्थानीय समाज में उत्पादकता के बढ़ने से अधिशेष जमा होने लगा जिसे सामुदायिक नेताओं के अनुलाभों में बदल दिया गया। एक ऐस समाज में जहां काफी मात्रा में जमीन उपलब्ध थी भूमि स्वामित्व पर आधारित एक व्यवस्था उभर कर नहीं आ सकी। इसके बदले किसान भू-स्वामी सामुदायिक नेता बन गये और वे ही ग्रामीण शासकीय वर्ग में परिवर्तित हो गये जिन्होंने 16वीं शताब्दी के अंत तक शोषक की भूमिका निभानी आरंभ कर दी। इस समय **वतन** को प्राप्तकर्ताओं की निजी संपत्ति समझा जाता था। इस काल के दौरान इसे अलग से और मुक्त रूप से बेचा गया। ग्रामीण शासकीय वर्ग के अनुलाभ राज्य की राजनैतिक संरचना में मिला लिए गए और उन्हें बलपूर्वक वसूलने के अधिकार में बदल दिया गया। फुकाजावा जैसे इतिहासकार इस प्रवृति को नीचे से बढ़ते सामंतवाद के रूप में देखते हैं। हालांकि मध्यकालीन यूरोप की तरह यहां किसानों और शासकीय ग्रामीण के बीच का वर्ग सम्बन्ध मालिक दास का सम्बन्ध नहीं था पर उन्हें सामुदायिक आधारित कृषि संबंध की संज्ञा दी, जा सकती है। मध्यकालीन दक्खन के संदर्भ में किसान सीधे तौर पर उत्पादक थे, जिनके पास उत्पादन के साधन होते थे और एक कृषक परिवार उन साधनों से खेती करता था। सामुदायिक नेता बाद में स्थानीय समाज के शोषक वर्ग बन गए पर वे जमीन के मालिक या सामंत नहीं बन पाए क्योंकि उस समय जमीन इतनी अधिक थी कि समाज में भू-स्वामित्व कोई महत्वपूर्ण मुद्दा नहीं था। वे किसानों और कारीगरों द्वारा उत्पादित अधिशेष पर कब्जा जमाने में ही रुचि रखते थे। इस प्रकार के समाज में समुदाय ही सर्वोच्च था और ग्रामीण शासकीय समूह किसानों पर न्यायिक अधिकारों का एकाधिकार स्थापित नहीं कर सकता था।

परगना और गांवों से राजस्व वसूल करने के लिए राज्य पदाधिकारियों को दिए गए **जागीर** और **सरजाम (मोकासा)** अनुदान को ऊपर से लादे गए सामंतवाद के रूप में देखा जाता है।

पर मध्यकालीन दक्खन की स्थिति की विशेषता को देखते हुए इस शब्द का प्रयोग सावधानीपूर्वक करना कीजिए।

बोध प्रश्न 2

1) भारतीय ग्रामीण समुदाय की प्रकृति से सम्बन्धित दो सिद्धांतों पर विचार कीजिए।

....

....

....

....

....

2) **वतन** व्यवस्था से आप क्या समझते हैं? इसकी मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

....

....

....

....

....

3) मध्यकालीन दक्खन में मौजूद किसानों की दो कोटियों की सूची बनाइए।

....

....

....

....

....

19.8 दक्षिण भारत : कृषि संरचना

अंग्रेज पदाधिकारियों की रिपोर्टों में दक्षिण भारतीय गांवों में भूमि पर सामूहिक स्वामित्व का उल्लेख मिलता है। आधुनिक काल के पहले भू-स्वामित्व और खेती उत्पादन का मुख्य आधार था। दक्षिण भारत में दो प्रकार के गांव थे: **ब्रहम्देय** और **गैर ब्रहम्देय**। शासकों द्वारा ब्राहम्णों को अनुदानित भूमि को **ब्रहम्देय** कहा जाता था। इन गांवों में ब्राहम्णों ने सामूहिक स्वशासी निकाय **सभा** की स्थापना की थी। पल्लव और चोल काल में ये गांव सबसे ज्यादा प्रतिष्ठित थे। **गैर-ब्रहम्देय** गांव अधिक पुराने थे और इनकी संख्या **ब्रहम्देय** गांवों से ज्यादा थी। एक काल और स्थान के अभिलेखों के अध्ययन से कुछ मुद्दे उभर कर आते हैं। **ब्रहम्देय** गांवों में व्यक्तिगत (बड़े भूमिपतियों के पास कई गांव होते थे) स्वामित्व था और गैर ब्रहम्देय गांवों में **उरार** किसानों के बीच सामुदायिक भू-स्वामित्व था **उर** गैर-**ब्रहम्देय** गांवों की सभा को कहते थे। विजयनगर काल में भू अधिकार की दृष्टि से गांव बड़ी इकाई थी। चोल काल में मुख्य इकाई **नाडु** (स्थान) था जिसे **ओक्कुल** (कर्नाटक में) भी कहते थे। विजयनगर साम्राज्य में गांव मुख्य इकाई हो गई। **सभा**, **उर** और **नटटर** जैसे स्वशासी निकायों का पतन हुआ और बाद में विजयनगर काल में ये लुप्त हो गए और इनका स्थान **नायक** या स्वतंत्र शासकों ने ले लिया।

ग्रामीण सेवकों (**अयगारों**) को **मान्या** या राजस्व मुक्त भूमि या कम किराये की भूमि मिलती थी। ब्राहम्णों और मन्दिरों के भूमि अनुदान को क्रमशः **एकोभोगम** और **देवदान**

कहते थे। कृषि में निवेश करने के कारण बढ़ी उत्पादकता से प्राप्त निजी अधिकार (आय अंश) को कर्नाटक में **दसवंदा** या **काटट् कोडग** कहते थे। 16वीं शताब्दी में भूमि स्वामित्व व्यवस्था और कृषि संरचना में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। विजयनगर के सैनिक प्रधान (**नायक**) तमिल गांवों के स्थानीय वंश आधारित समाजों में हस्तक्षेप करने लगे। तमिल क्षेत्र में काफी समय से मन्दिर एक स्वायत्त भू स्वामी और सामूहिक संस्था के रूप में कार्य कर रहा था। विजयनगर के शासक ने मन्दिरों का प्रबधन अपने पास ले लिया। मन्दिरों की भूमि को ठेके की भूमि में बदलने के कारण कृषि अर्थव्यवस्था में काफी परिवर्तन आ गया। इस ठेके की भूमि पर अधिकार करके ये शासक कृषि व्यवस्था की धुरी बन गये।

19.9 भूमि सम्बन्धी अधिकारों की प्रकृति

ग्रामीण समाज में मौजूद कृषि अधिकारों (**कनियात्छी**) के विभिन्न प्रकारों पर विचार करने से **नायकों** और किसानों के आपसी संबंधों पर प्रकाश पड़ेगा। किसानों द्वारा अधिशेष उत्पादन और तेलुगु **नायकों** द्वारा सफलतापूर्वक उसकी वसूली विजयनगर राज्य की शक्ति का आधार था। तमिल ग्रामीण प्रदेश के सूखे मैदानों में **थोटिटयन, पान्टा रेडडी, नायडू** और **कम्बलटटर** जैसी योद्धा प्रजातियां बसी हुई थी। परम्परागत तमिल **कृषक संभ्रांतों जैसे नट्टावर** एवं **उरावर** का स्थान तेलुगु बोलने वाले समुदायों ने लिया जिन्होंने इस इलाके को परिधीय क्षेत्र में परिवर्तित कर दिया।

योद्धा प्रधानों ने कम बसे हुए कोंगू क्षेत्रों में गहन खेती कर कृषि विकास को प्रोत्साहित किया। कोगू की काली मिटटी वाले इलाकों में तालाब सिंचाई व्यवस्था उपलब्ध कराई गई और गन्ने जैसी नगदी फसलों को बढ़ावा दिया गया।

15वीं. शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मन्दिर भूमि (**देवदान**) को योद्धा प्रधानों की अर्ध निजी भूमि सम्पदा (**कनिपर्रू**) के रूप में परिवर्तित किया। 1511 ई. के एक अभिलेख में मन्दिर के भूमि अधिकारों की कृषि बस्ती (**तिरूनामथुक्कनी**) को एक योद्धा प्रधान के **कनिपरू** में परिवर्तित करने का उल्लेख मिलता है। खेती करने के अधिकार के साथ-साथ कर आरोपित करने का अधिकार भी अनुदानग्रही को मिल गया। 16वीं शताब्दी के भूमि सम्बन्धी इन लेन देनों में कई भूमि संबंधी और वित्तीय अधिकार समाहित थे। **उरावर** और **नटटर जैसे** परम्परागत किसान संभ्रान्तों और **उर** जैसी किसान सभाओं का स्थान **नायकों** द्वारा निर्मित सक्रिय और विस्तारित कृषि राजनैतिक संरचना ने ले लिया।

नायकों ने इस काल में कई शहर और किलाबंदी करके बस्तियां बसाईं। उन्होंने राजनैतिक और आर्थिक केन्द्रों के रूप में कार्य किया। कावेरी डेल्टा में उनकी अनुपस्थिति सुस्पष्ट है। योद्धा प्रधानों द्वारा अधिगृहीत **पलयान** वह भूमि थी जहां **नायकों** द्वारा स्थापित राजनैतिक और आर्थिक संरचना में किसानों, कारीगरों और व्यापारियों को समाहित कर लिया गया। वे किसानों और कारीगरों से क्रमशः **कुदानाइ** (स्थानीय कर) और **सित्तयम** वसूल करते थे।

नायकों के भूमिधारण अधिकार को **कानिपर्रू** के नाम से जाना जाता था। यह संभवतः भूमि संबंधी अधिकार की ओर इशारा करना था अर्थात् इसके अंतर्गत स्वामित्व के पूर्ण अधिकार के बिना भूमि की खरीद बिक्री की जा सकती थी। इसमें कई प्रकार के करों का भी उल्लेख है। 1522 ई. में एक अभिलेख में मन्दिर भूमि और इसके अधिकारों के नायकों को हस्तांतरित किए जाने का उल्लेख मिलता है। ये अधिकार निम्नलिखित थे :

1) किसानों से कर वसूलना
2) खेती करवाना और लोगों को बसाना, और
3) मन्दिर से **परसादम** (पवित्र भोजन) ग्रहण करना।

नायकों को भूमि के हस्तांतरण का अर्थ भू-स्वामित्व का हस्तांतरण नहीं था। **नायक** भूमि का उपयोग कर सकते थे और कर वसूल कर सकते थे पर अभी भी स्वामित्व सम्बन्धी अधिकार मन्दिरों के पास सुरक्षित था।

कनिपर्रू योद्धा प्रधानों और मन्दिरों के बीच एक सशर्त और संविदागत पटटेदारी या समझौता था। स्वामित्व मन्दिरों के पास रहता था और मन्दिरों को नगद या वस्तु में भुगतान करना नायकों का उत्तरदायित्व होता था।

भूमि के हस्तांतरण से किसानों को अपनी जमीन नहीं छोड़नी होती थी। अपने हिस्से की जमीन (**करई**) उनके पास ही रहती थी। किसानों को मन्दिर भूमि के हस्तांतरण के मामले में किसान नेता (**मुदाली**) खेती का जिम्मा अपने ऊपर ले लेते थे। वे मन्दिर को **बडवथी** (नाजराना) प्रदान करते थे। इस प्रकार के किसान भूमि अधिकार को **कुडिनंइग देवदानम** कहते थे। इस प्रकार के गांवों के किसानों का भूमि में स्थाई हिस्सा होता था और उन्हें कोई बेदखल नहीं कर सकता था।

करों की दर ऊंची थी। इसके अलावा किसानों पर सिंचाई व्यवस्था बनाए रखने के लिए दबाव डाला जाता था। कृषि असंतोष बढ़ने लगा पर कांगू इलाके में भूमि की उपलब्धता के कारण इसे रोक कर रखा जा सका। बाद में 17वीं शताब्दी में जब यह क्षेत्र (सीमांत) बंद हो गया तो असंतोष बढ़ने लगा। यह विजयनगर **नायकों** की कृषि नीति का परिणाम था।

नायकों और संस्थाओं के अलावा व्यक्तिगत तौर पर भी भूमि लोगों को पटटे पर दी गई। **इस पटटे में घर, सिंचित और सूखी भूमि शामिल थी। कई मामलों में, पटटेदार के वंशजों** को इसे बेचने, गिरवी रखने आदि का भी अधिकार होता था।

मन्दिरों द्वारा पटटे पर दी गई भूमि पर केन्द्रीय और स्थानीय सरकारों द्वारा लगाया गया कर पटटेदार मन्दिरों को ही चुकाता था। मन्दिरों द्वारा पट्टे पर दी गई भूमि कर मुक्त नहीं होती थी। अपने लिए **कदमई** जैसे कुछ कर रखकर पटटेदारों से लिया गया कर मन्दिर राज्य को सौंप देते था। पटटेदारों को खेती करने, जमीन को खेती योग्य बनाने और नई जमीन पर खेती करने का अधिकार होता था। आमतौर पर पटटेदार स्वयं खेती नहीं करते थे, वे यह काम दूसरों से करवाते थे। वे मन्दिर कोष में नगद या वस्तु के रूप में कर जमा करते थे। खेतीहरों को भी उत्पाद में हिस्सा मिलता था। लगभग सभी पटटेदार पटटे वाली भूमि के मालिक होते थे।

मिरासी अधिकार दक्षिण भारत की भूमि व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण हिस्सा था। **मिरासदारों** के पास मनियम नामक कर मुक्त जमीन होती थी। उन्हें इन भूमि से उत्पाद में हिस्सा (**कुपाटटम**) मिलता था। कई मामलों में एक गांव कई **मिरासदारों** के पास होता था। खेतीहरों को **पयकरी** कहा जाता था वे समूहों में विभक्त थे—**उलकुडी** और **परकुडी।** पहले वाले गांव में रहते थे। उनके अधिकार हस्तांतरणीय नहीं थे और उसमें हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता था। **परकुड़ी** भूमिधारी द्वारा दी गई भूमि के असामी थे जिन्हें ठेके पर खेती करने का अधिकार मिलता था। **मिरासदारों** द्वारा सरकार को दिए जाने वाले करों को **पन्नू, इरह, वारि** आदि नाम से सम्बोधित किया गया है। **मिरासदार** दो प्रकार के होते थे—निवासी और अनिवासी। खेती कराने के लिए **मिरासदार** सरकार और ग्रामीणों के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाते थे।

इस प्रकार **मिरासी** अधिकार हालांकि अनुवांशिक था पर यह सब जगह एक समान नहीं था। इसका स्वरूप जगह-जगह पर अलग अलग था। इसे बिक्री, बंधक या उपहार के द्वारा हस्तांतरित किया जा सकता था।

बोध प्रश्न 3

1) कनिपर्रू अधिकार के स्वरूप पर विचार कीजिए।

....

....

....

....

....

2) दक्षिण भारत में **मिरासी** अधिकार की मुख्य विशेषताएं क्या थी?

....

....

....

....

....

19.10 सारांश

इस इकाई में हमने मध्यकालीन दक्खनी गांवों की विशेषताओं पर विचार किया। मध्य कालीन दक्खन में भू-स्वामित्व संबंधी बहस पर एक नजर डाली गई। इसमें ग्रामीण समुदाय के साथ-साथ, ग्रामीण समुदाय के विभिन्न तत्वों की भी जानकारी दी गई। दक्खन में पाई जाने वाली वतन व्यवस्था का विस्तार से विश्लेषण किया गया। इसके साथ-साथ इस इकाई में दक्षिण भारत की भू-व्यवस्था पर भी प्रकाश डाला गया। विभिन्न प्रकार के भू-अधिकारों और इन भू-अधिकारों से उत्पन्न कृषि संबंधों की भी चर्चा की गई।

19.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखिए भाग 19.3
2) देखिए भाग 19.5 और उप भाग 19.5.1, 19.5.2, 19.5.3, 19.5.4
3) देखिए भाग 19.4

बोध प्रश्न 2

1) देखिए भाग 19.5 और उप भाग 19.6.1
2) देखिए भाग 19.7 और उप भाग 19.7.1 और 19.7.2
3) देखिए भाग 19.6 और उप भाग 19.6.1

बोध प्रश्न 3

1) देखिए भाग 19.9
2) देखिए भाग 19.9